महानगरों में फल-फूल रही है कट्टरता

संजय कुंदन

बीते अप्रैल की घटना है। मुंबई में एक युवक को दलित होने की वजह से नौकरी से निकाल दिया गया। उस युवक के बेहतरीन साक्षात्कार के बाद एक इवेंट मैनेजमेंट कंपनी ने उसे अपने यहां नौकरी दी थी। लेकिन कंपनी वालों को ज्यों ही पता चला कि वह 'जय भीम' वाला है, उसे हटा दिया गया। करीब दो साल पहले लखनऊ में एक डिलीवरी ब्यॉय जब खाना लेकर आया तो खाना मंगवाने वाले ने उसकी जाति पूछी। जब उसने बताया कि वह दलित है तो उस डिलीवरी बॉय के साथ मारपीट की गई, उसे जातिसूचक शब्द कहे गए। ये दो घटनाएं सुर्खियों में रहीं, हालांकि ऐसी कई घटनाएं ख़बर नहीं बन पातीं। इस तरह के वाकये होते रहते हैं।

इधर सोशल मीडिया से भी बहुत सी चीज़ें सामने आने लगी हैं। अभी किसी ने बताया कि उसे दिल्ली में मकान मिलने में मुश्किलें आ रही थीं, सिर्फ़ इसलिए कि वह दलित है। मकान मालिक से जब सब कुछ तय हो जाता था, तो अंत में जाति पूछी जाती थी और किसी बहाने से मना कर दिया जाता था। आईआईटी जैसे संस्थानों से दलित छात्रों की आत्महत्या की ख़बरें भी गाहे–बगाहे आती रहती हैं। ये तथ्य इस मान्यता का खंडन करते हैं कि शहरीकरण की प्रक्रिया से जातिगत या धार्मिक रूढ़ियां कमज़ोर पड़ जाएंगी या ख़त्म हो जाएंगी। सवाल है कि क्या शहरीकरण और सामाजिक बदलाव में इतना सीधा रिश्ता नहीं है या भारत में शहरीकरण की प्रक्रिया में ही कोई बुनियादी खोट है?

आज़ादी के बाद के सामाजिक–आर्थिक विकास ने निश्चय ही तमाम तरह की रूढ़ियों को कमज़ोर किया। शहरों–महानगरों में एक कॉस्मोपॉलिटन संस्कृति विकसित हुई। अलग–अलग क्षेत्रों के लोग यहां आए और उन्होंने एक नयी जीवन–पद्धति अपनाई और अपनी मूल पहचान के साथ एक नई पहचान भी अर्जित की, जो उनके नए शहर से जुड़ी थी। जाति–वंश, गोत्र, प्रदेश आदि से ऊपर उठकर वे समान संस्कृति में ढले। जाति आधारित कई बंधन ढीले पड़े। खानपान के प्रतिबंध कमज़ोर पड़ गए। घर से बाहर खाने या घर में बाहर से खाना मंगवाने के चलन से ऐसा हुआ। गांवों–क़स्बों की तरह हर बात में जाति का उल्लेख समाप्त हो गया। सार्वजनिक समारोहों या किसी भी तरह के अन्य सामाजिक अवसरों पर जाति कोई निर्णायक तत्त्व नहीं रह गया। लेकिन अवचेतन में जाति संबंधी ग्रंथियां बनी रहीं। ये और कमज़ोर पड़कर समाप्त हो सकती थीं, लेकिन बीच–बीच में उन्हें ज़िंदा करने या ख़ुराक देने की कोशिशें चलती रही हैं, जिससे यह ख़त्म होने का नाम नहीं ले रही और यह कई बार भयावह रूप में भी प्रकट होती रहती है।

सवाल है कि विकास की प्रक्रिया सामाजिक रूढ़ियों को पूरी तरह ध्वस्त क्यों नहीं कर पाई? शायद इसलिए भी कि हमारे नेतृत्व वर्ग में इतनी इच्छाशक्ति नहीं है कि वह सामाजिक ढांचे को पूरी तरह हिला दे। जाति–व्यवस्था को लेकर हमारे स्वतंत्रता आंदोलन के नेताओं के भीतर भी कई तरह के

अंतर्विरोध थे। हालांकि यह अलग से विचार का विषय है। जहां तक विकास प्रक्रिया की बात है, तो उस पर भी एक छोटे से तबक़े का क़ब्ज़ा रहा। विकास प्रक्रिया का भागीदार हर किसी को बनाना और हर किसी को संसाधनों का बराबर लाभ नहीं मिल सका। यही वजह है कि एक बड़े वर्ग को उसके मूलभूत अधिकारों से दूर रखने के लिए तमाम सामाजिक विभाजनों को न सिर्फ बनाए रखा गया, बल्कि उन्हें परोक्ष रूप से खाद–पानी भी दिया गया।

हमारे देश में जाति को धर्म से जोड़ दिया गया है और इसी ने उसे अभेद्य जैसा बना डाला है। जब धार्मिक अस्मिता को हवा दी जाएगी तो उससे जुड़ी तमाम संरचनाएं भी फलेंगी–फूलेंगी। जब धर्म किसी बड़े सामाजिक बदलाव का नहीं स्वार्थ सिद्धि का साधन बनेगा तो उससे जुड़ी कट्टरताएं सिर उठाएंगी ही। भारत में धर्म आधारित राजनीति ने धर्म के प्रगतिशील नहीं बल्कि उसके रूढ़िवादी स्वरूप को आगे बढ़ाया है, जिससे जातिगत कट्टरता भी बढ़ी है। और यह प्रवृत्ति हाल में कुछ ज़्यादा ही बढ़ी है। पिछले कुछ वर्षों से हमारे देश में धर्म आधारित राजनीति काफ़ी मज़बूत हो गई है। धार्मिक पहचान के आधार पर समाज का ध्रुवीकरण इस राजनीति का सबसे बड़ा हथियार है। बहुसंख्यक आबादी के भीतर उनकी धार्मिक पहचान खोने का झूठा भय पैदा किया जा रहा है और इस आधार पर उसे गोलबंद किया जा रहा है। दुर्भाग्य से इस राजनीति के बरक्स खड़ी ताक़तें भी धार्मिक प्रतीकों को लेकर उससे लड़ना चाह रही हैं।

इससे कॉस्मोपॉलिटन संस्कृति की जो थोड़ी बहुत ज़मीन बनती जा रही थी, उसको गहरा धक्का लगा है। अगर आप समाज को पीछे ले जाएंगे तो अतीत की बहुत सारी विसंगतियां सिर उठाएंगी ही। सारे पुराने प्रतीक भी लौट आएंगे। जैसे अब दिल्ली जैसे महानगर में जातिगत गौरव का भोंडा प्रदर्शन बढ़ा है। लोग अपनी गाड़ियों पर अपनी जाति लिख रहे हैं। क़रीब एक–डेढ़ दशक पहले यह इतना आम नहीं हुआ करता था। उच्च और दबंग जातियों द्वारा ऐसा किए जाने की प्रतिक्रिया में वंचित तबक़े से आए कुछ मध्यवर्गीय या संपन्न लोगों ने भी ऐसा करना शुरू किया है, पर उनकी संख्या कम है। लोगों में टीका लगाने या चुटिया रखने की प्रवृत्ति भी बढ़ी है, जो एक ख़ास धार्मिक पहचान से जोड़ती है। इधर कुछ खास जाति के आइकन या धार्मिक–मिथकीय (जैसे परशुराम) चरित्रों का जन्मदिन मनाने पर ज़ोर बढ़ा है। पहले भी इनका जन्मदिन मनाया जाता था, पर अब वह सब बड़े पैमाने पर होने लगा है, इसमें प्रदर्शन की प्रवृत्ति ज़्यादा है और यह जातिगत लामबंदी का एक अवसर हो गया है। एक जाति में बढ़ती इस प्रवृत्ति ने दूसरों में भी इसे बढ़ाया है।

जातिगत कट्टरता को तकनीक का साथ भी मिला है। सोशल मीडिया पर जाति का बोलबाला है। फेसबुक पर जाति आधारित पेज बने हुए हैं। महानगरों की सोसाइटीज के लोगों के वाट्सऐप ग्रुप भी क्षेत्र और जाति के आधार पर बने हुए हैं। लोग ज्यादातर समय अपनी ही जाति के लोगों से संवाद करने या जुड़े रहने में बिताते हैं। हमारे देश में जाति का आग्रह इतना ज़्यादा रहा है कि तमाम शहर जाति के आधार पर ही बसाए गए हैं। क़रीब चार साल पहले एक शोधपत्र प्रकाशित हुआ था– 'आइशोलेटिड बाई कॉस्ट: नेबरहुड स्केल रेसिडेंशिएल सेग्रिगेशन इन इंडियन मेट्रोस।' इसे इंडियन इंस्टिटयूट ऑफ बेंगलुरु ने प्रकाशित किया था। इसमें यह बताया गया था कि शहरों में भी बस्तियां जातियों के आधार पर बसी हुई हैं और सवर्णों के मोहल्लों में दलितों को अक्सर ठिकाना नहीं मिलता।

दलितों के प्रति हिक़ारत और उन्हें मुख्यधारा से दूर रखने का आग्रह इतना ज़्यादा रहा है कि कॉरपोरेट भी उन्हें अपने भीतर नहीं आने देता। इससे यह धारणा भी खंडित होती है कि पूंजी या मुनाफ़े का तंत्र सामंती–पुरातनपंथी मान्यताओं से मुक्त होकर काम करता है। सुखदेव थोराट और पॉल अटवेल के एक शोध ने काफ़ी पहले ही यह दिखाया था कि आधुनिक और मल्टिनेशनल

कंपनियों को अगर एक ही बायोडाटा सवर्ण और दलित सरनेम के साथ भेजा जाए, तो सवर्ण सरनेम वाले बायोडाटा के इंटरव्यू के लिए कॉल आने के चांस ज्यादा होंगे। थोराट और अटवेल ने 2007 में दिल्ली– एनसीआर में इस सिलसिले में शोध किया था। उन्होंने अखबारों में आए जॉब के विज्ञापनों के जवाब में तीन तरह के बायोडाटा भेजे। बायोडाटा में शिक्षा और अनुभव समेत सभी तथ्य एक जैसे रखे गए। सभी बायोडाटा पुरुष कैंडिडेट के थे। लेकिन पहले बायोडाटा का सरनेम ऐसा रखा गया ताकि कैंडिडेट सवर्ण हिंदू नजर आए, दूसरे का सरनेम दलित और तीसरे का मुसलमान रखा गया।

इस शोध से पता चला कि कंपनियां जब बायोडाटा छांटती हैं तो इस बात की गुंजाइश ज्यादा है कि सवर्ण हिंदू सरनेम वाले कैंडिडेट के पास इंटरव्यू का कॉल आए और दलित या मुसलमान नाम वाले कैंडिडेट पहले ही छंट जाएं। जब इंटरव्यू के लिए बुलाया ही नहीं जाएगा तो नौकरी मिलने का प्रश्न ही नहीं है। आज से क़रीब डेढ़ दशक के इस शोध को हाल की मुंबई की घटना से मिलाकर देखें तो समझ में आता है कि कॉरपोरेट का नज़रिया आज भी वही है।

इसमें कोई दो राय नहीं कि प्रगतिशील, लोकतांत्रिक–धर्मनिरपेक्ष राजनीति का शिथिल पड़ना भी इसके लिए ज़िम्मेदार है। रोज़ी–रोटी, शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे बुनियादी मुद्दे अगर सियासत केंद्र में आएंगे और इन्हें लेकर जनता को गोलबंद किया जाएगा तो निश्चय ही हर तरह की कट्टरता कमज़ोर पड़ती जाएगी।